पुण्य–पाप

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

जब आत्मा अन्तरालगत से किसी दूसरे शरीर को धारण करता है तो उसके किये हुए कार्य दूसरे जन्म में भी चले जाते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप उदय में आकर पुण्य–पाप कहलाते हैं। पुण्य का अर्थ है सुख देने वाले कर्म और पाप का अर्थ है दुख देने वाले कर्म। पुण्य और पाप अच्छे और बुरे कर्मों के फल है। यदि आदमी अच्छा कर्म करता है तो उसे पुण्य की प्राप्ति होती है और यदि बुरा कर्म करता है तो उसे पाप का भागी बनना पड़ता है। पुण्य एवं पाप कर्म सापेक्ष है। कोई कार्य किसी के लिए पुण्य होता है और किसी के लिए पाप। किन्तु यदि समग्र दृष्टि से देखा जाये तो पुण्य और पाप का संबंध नैतिकता और अनैतिकता से भी है। जितने भी नैतिक कार्य है वे पुण्य हैं और जितने अनैतिक कार्य है वे पाप है।

जैन दर्शन पुण्य और पाप को एक अन्य रूप में स्वीकार करता है। अध्यात्म की दृष्टि से पुण्य और पाप ये दोनों बन्धन हैं। भारतीय चिन्तकों ने पुण्य–पाप के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। मीमांसा दर्शन ने पुण्य साधना पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने पुण्य को जीवन का ध्येय माना, किन्तु जैनदर्शन ने पुण्य को अपेक्षा–दृष्टि से हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनों माना है। निश्चयनय की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों हेय हैं। पुण्य सुहावना है और पाप असुहावना है। लोहे की बेड़ी काली होने से भद्दी लगती है किन्तु सोने की बेड़ी में चमक–दमक होने पर भी बन्धन तो है ही। दोनो व्यक्ति को बांधकर रखती है। तलवार स्वर्ण की बनी हुई है, इतने मात्र से उसमें कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि स्वर्ण की होने पर भी प्राणनाशक तो है ही।

पुण्य को आज की भाषा में प्रथम श्रेणी कारावास कह सकते हैं और पाप को कठोर कारावास। मोक्ष प्राप्ति के लिए दोनों त्याज्य हैं। व्यावहारिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठ है। चूंकि पाप से नरक आदि दारुण वेदनाएँ प्राप्त होती हैं, लोक में निन्दा, अपयश और कष्ट प्राप्त

होता है जबकि पुण्य से स्वर्गीय एवं कमनीय सुखों की उपलब्धि होती है। इस लोक में भी यश आदि मिलता है। जैसे विश्राम करने के लिए चिलचिलाती धूप में बैठने के बजाय वृक्ष की शीतल छाया में बैठना सुखदायी होता है, वैसे ही जीवन में पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठ है।

पुण्य दो प्रकार का है– पुण्यानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पुण्य। जो पुण्य, पुण्य की परम्परा को चला सके अर्थात् जिस पुण्य को भोगते हुए नवीन पुण्य का बन्ध हो, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। उदाहरणार्थ एक मानव को पूर्व भव के पुण्य से सभी प्रकार के सुख–साधन प्राप्त हुए तथापि मोह से उसमें पागल न बनकर आत्महित के उद्देश्य से वह मुक्ति की अभिलाषा रखता है, पूर्व पुण्य का उपभोग करता हुआ नवीन पुण्यों का बन्ध करता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। जो पुण्य नवीन पाप बन्ध का कारण है वह पापानुबन्धी पुण्य है अर्थात् पूर्वभव की पुण्यवानी से सभी सुखोपभोग के साधन उपलब्ध हुए परन्तु मोह की प्रबलता से असदाचारी बनकर पाप करता है तो वह पाप बन्ध का कारण होने से पापानुबन्धी पुण्य है।

जिस पाप को भोगते समय नया पाप बंधता है, वह पापानुबन्धी पाप है, जैसे कसाई, धीवर आदि ने पूर्व भव में पाप किया, जिससे इस भव में दरिद्रता आदि कष्ट उन्हें प्राप्त हो रहा है और इस पाप को भोगते समय नवीन पापों का बन्ध कर रहे हैं अतः वह पापानुबन्धी पाप है। जिस पाप को भोगते समय नवीन पुण्योपार्जन होता है, उसे पुण्यानुबन्धी पाप कहते हैं। जो जीव पूर्वभव में किये हुए पाप के कारण इस समय दरिद्रता आदि का दुःख भोग रहे हैं, किन्तु सत्संग आदि के कारण विवेकपूर्वक कार्य करके पुण्योपार्जन करते हैं, वे पुण्यानुबन्धी पाप वाले कहलाते हैं।

मानव को जीवन में पुण्यकारी प्रवत्तियां करके जीवन यापन करना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावना से पुण्यकारी प्रवृत्तियां करना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होकर जीवन यापन करना चाहिए। इस प्रकार हिंसा आदि पांच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनका त्याग या इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन नहीं करना चाहिए।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये जब मर्यादित रूप से ग्रहण किये जाते हैं, तब अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है। वह हिंसा आदि का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जबकि साधु–साध्वी वर्ग का जीवन गृहस्थी के उत्तरदायित्व से मुक्त होता है। वह पूर्ण आत्मबल के साथ पूर्ण चारित्र के पथ पर अग्रसर होता है। अहिंसा का पालन करने से पुण्य और हिंसा करने से पाप प्राप्त होता है। अहिंसा जैन आचार शास्त्र का केन्द्रीय तत्त्व है। आगमों और तदुपजीवी प्रायः सभी ग्रन्थों में अहिंसा की महनीयता का वर्णन किया गया है। यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। इसका सदाचार पूर्वक पालन करने से पुण्य की प्राप्ति होती है। पुण्य कर्म करके जीव सद्‌गति को प्राप्त करता है और मोक्ष को प्राप्त करता है।